क़त्ल

जिंदर

हिन्दी ADDA

क़त्ल

https://www.hindiadda.com/qatal/

उस रात मैं अपने कमरे में अकेला था। बापू का अस्तित्व मेरे लिए होने न होने जैसा था। वैसे भी बापू को कोई सुधि न थी। बाजू या टाँग जिस तरफ भी उठाकर रख दी, वहीं की वहीं टिकी रहती - निर्जीव! दोपहर को तो बार बार ऐसा लगता था कि वह आज की शाम बमुश्किल निकालेगा। वह कठिन-कठिन लंबे साँस ले रहा था। उसका पेट ज़रूरत से अधिक फूल जाता था। गले से घर्र-घर्र की आवाज़ आती तो माँ सिहराने की ओर पड़े मेज़ पर रखी लुटिया में से जल चम्मच भर-भरकर उसके मुख में डालना शुरू कर देती। काफ़ी देर तक पानी मुँह में ही बना रहता। जब वह आह भरने जैसा साँस लेता तो पानी गले से नीचे उतरता। माँ से अधिक समय तक बैठा नहीं जाता था। वह चक्कर मारती, उसके चेहरे को निहारती, पायजामा देखती और विचारों में खोई-खोई 'वाहेगुरु-वाहेगुरु' करते हुए कमरे से बाहर हो जाती। फिर वह बेचैन हो उठती। शायद इस कारण कि बापू का अंत समीप था। अब फ़र्क़ पड़ने की आशा धुंध में खोई हुई वस्तु की तरह थी तथा डॉक्टर जगदीश ने जवाब देने की मुद्रा में कह दिया था कि बुज़ुर्ग की सेवा में ही तुम सबका भला है। फिर माँ ने बापू के कमरे की अगरबत्ती बुझने नहीं दी थी तथा स्टीरियो पर भोर से लेकर गहन रात तक 'रहरास' का पाठ चलता रहता। इन क्षणों के दौरान माँ की आँखें बंद होतीं, वह चुपचाप चलती-फिरती तथा बापू को कंधे से पकड़कर झकझोरती हुई कहती, "तुम आवाज़ के पीछे-पीछे पाठ करते रहो। शायद अगले जन्म में तुम्हारा भला हो जाए।"

माँ का बार-बार यह दोहराना मुझे बहुत बार हँसा दिया करता। इन क्षणों में मुझे अपने आप पर नियंत्रण रखना बड़ा कठिन लगता तथा मैं अपना सिर टखनों तक झुका लेता, कदाचित् माँ कह न दे - तुम्हारा बापू मौत से जूझ रहा है और तुम्हें हँसी सूझ रही है। वैसे माँ का ऐसा करना मुझे अजीब लगता, आश्चर्यजनक !

अब भी अजीब लग रहा था। अब ही क्यों, जब से मैंने होश सँभाला है तब से ही अजीब लगता आ रहा है। फिर कॉलेज में जाते हुए इन सब बातों के कुछ दूसरे ही अर्थ समझ में आए थे। बापू मनमौजी था। जो उसके मन में आता, वही करता। फिर चाहे लाभ हो या हानि, इससे उसका कोई सरोकार न था। उसने अपना हठ तब तक निभाया जब तक उसकी चलती रही। चली ही क्यों, तब तक जब तक उसे अपनी सुध-बुध रही। अंतिम समय से तीन दिन पहले तक।

पेशाब करने के लिए मैं उठा तो बापू का दायाँ बाजू खाट से नीचे लटक रहा था। मैंने आगे बढ़कर बाजू को उठाया और उसे फिर से खाट पर कर दिया। तभी, मेरा ध्यान बापू के चेहरे की ओर दाएँ-बाएँ चला गया। उसके नेत्र बंद थे तथा कोरें गीली थीं, नाक के दोनों ओर मैल की पपड़ी जमी हुई थी। दाढ़ी के बाल बिखरे हुए थे। एकाएक मैंने

उसके झुर्रियों-भरे चेहरे की ओर से अपना ध्यान हटा लिया। मुझसे उसकी ओर देखा ही नहीं गया। इसलिए नहीं कि उसका अंत समीप आ गया था तथा उसके गालों के नीचे वाली हड्डियाँ बाहर को झाँकने लग थीं या मुझे उसके चेहरे से भय लगा था या उससे दुर्गंध आ रही थी, परंतु दुर्गंध जैसा कुछ नहीं था। माँ तो दोनों समय गरम पानी से उसका मुख पोंछती रही थी तथा दूसरे दिन कपड़े भी बदलती रही थी - चादर और दरी समेत। स्वयं बाहर वाली खिड़की खोलती तथा शाम को बंद कर देती थी वह। कांता या मेरे भरोसे कोई काम नहीं छोड़ा था उसने।

पता नहीं कितने साल हो गए। शायद मेरी नौकरी लगने से पूर्व, हो सकता है, तब से ही जब मेरा कॉलेज में प्रथम वर्ष था। प्रवेश-शुल्क तथा अन्य खर्चे सरवन भाई साहब ने दिए थे। आगामी सैशन का शुल्क जमा करवाना था। बापू अपनी बैठक में बैठा गीत सुन रहा था। अपने मूड में। उन दिनों वह घर के प्रत्येक सदस्य की इच्छा पूर्ण कर देता था, सिवाय माँ के। माँ तो उसके कमरे में जाने का साहस ही नहीं करती थी। रोटी देनी हो तो कांता जाती, चाय पूछनी हो तो मैं पूछता। पता नहीं बापू माँ से इतनी घृणा क्यों करता था। कई बार मन करता कि पूछूँ, परंतु पिता और पुत्र के मध्य की दीवार मैं पार नहीं कर पाता था। बुआ के यहाँ जाना होता था किसी शोक पर, बापू कांता द्वारा संदेश भेज देता, "अपनी माँ को बोल देना, जल्दी चलना है। यूँ ही समय न बर्बाद करती रहे। समय से लौटना भी है।" तथा चलते समय आदेश देता, "मैं जा रहा हूँ।" बापू बस-स्टॉप पर पहुँच चुका होता तब कहीं माँ घर से निकलती। वापसी पर भी आगे-पीछे ही लौटते, हम चारों बहन-भाई छुप-छुपकर हँसते।

गीत समाप्त होने तक मुझे चुप रहना पड़ा था। बापू ने आँखें मूँद रखी थीं। ऐसे जैसे कोई साधु भक्ति में लीन होता है। दीवार के साथ लगाए तकिये से उसने पीठ लगा रखी थी। सिर पर साफा लपेट रखा था। घुटनों को बाहुपाश में बाँधे और ऊपर शॉल लपेटे।

"बापूजी, मुझे **120** रुपये फीस के देने हैं, कल तक।"

उसने आँखें खोलीं, जलती हुईं। आज उसकी आँखें बिना पिये ही लाल थीं। शायद पहले से ही लाल हों, इस विषय में मुझे अधिक ज्ञान नहीं क्योंकि मैं उसकी ओर कभी सीधा नहीं देख पाया था आज तक।

"अपनी माँ से ले लेना," उसने फिर आँखें बंद कर लीं तथा अगले गीत के साथ-साथ वही शब्द गुनगुनाने लग पड़ा।

मेरे पास कमरे से बाहर चले जाने के अतिरिक्त और कोई चारा न था। मुकेश के गीतों के दौरान वह किसी प्रकार की दख़लअंदाजी पसंद नहीं करता था। यदि मैं प्रत्युत्तर में बोलता तो वह सीधा ही मुझे कमरे से 'दफ़ा हो जा' कह देता। द्वार के पास आकर मैंने उसकी ओर देखा था। उसका चेहरा मुझे किसी फ़कीर जैसा लगा था। पहुँचे हुए फ़कीर की तरह शांत-गंभीर !

शायद माँ ने भी उसकी बात सुन ली थी। मुझे संकेत से अपने पास बुलाकर कहा था, "खबरदार जो भविष्य में इससे कभी एक पैसा भी माँगा... जितनी देर तुम पढ़ोगे तुम्हारा खर्च मैं दूँगी, समझा! जीता रहे सरवन, अब तो ईश्वर की कृपा से वह प्रोफेसर लग गया है... यह कमाई उसके...।" और उसने चर्खे की हत्थी को ज़ोर से घुमा दिया था। उसका चेहरा क्रोध से लाल हो गया था। मैं जानता था कि वह कोई बात करने जा रही थी। मैं पाँच मिनट वहाँ खड़ा रहा था यह सोचकर कि आगे वह कुछ बोलेगी। जिसे वह बंती झीमरी से अपनी सौत कहा करती है, उसका आगा-पीछा उघाड़ने लगेगी, पर उसने न तो अपना सिर ऊपर उठाया था, न होंठों में बड़बड़ाई थी। जैसे इसको वह अपनी किस्मत मान बैठी हो।

स्कूल को जाते समय तथा वापसी पर बापू का कारखाना रास्ते में पड़ता था। उन दिनों वह खेती मज़दूर का काम करता था। एक दिन पूरी छुट्टी के समय मैं 'मेरे पिताजी' वाला प्रस्ताव याद करते हुए घर लौट रहा था। कई वाक्य याद आ जाते, कई भूल जाता। ऐसे ही भूलते-याद करते हुए बापू का कारखाना आ गया था। उसने आरन तपाया हुआ था। करमसिंह पंखा घुमा रहा था। लेकिन मैं वहाँ अधिक देर नहीं रुका था क्योंकि बापू मुझे पंखा घुमाने के काम पर लगा देता। फिर घर तक मेरे प्रस्ताव में काफी कुछ जुड़ता चला गया था - 'मेरे बापू जी बहुत श्रम करते हैं। वह सवेरे-सवेरे आरन तपा देते हैं... घर अँधेरा होने पर ही लौटते हैं, रोटी घर से जाती है... चाय-पानी वहीं चलता रहता है।' ऐसी कई पंक्तियाँ और जुड़ गई थीं। मेरा प्रस्ताव नया था, बाकी लड़कों से भिन्न। मुझे प्रसन्नता हुई थी। मुझे बापू पर गर्व था, उसके श्रमिक होने का।

मुख्य द्वार के पास आया तो माँ कुछ बड़बड़ा रही थी। मौसी करतारो उसे समझा रही थी, "ले, अरी! तुझे क्या चिंता है। इकलौती बेटी कांता, वह तो चावलों से ही ब्याही जाएगी। राजी रहे उसके मामे, तुम ज्यादा चिंता न किया करो। पुरुष जाति ऐसी ही होती है... जितना किसी का ढका रह जाए, अच्छा ही समझो।"

कल रात भी माँ और बापू झगड़ रहे थे, आधी रात तक। एक बोलता था, तो दूसरा चुप हो जाता। घूम-घूमकर बात वहीं आ जाती जहाँ से शुरू हुई थी। हम चारों बहन-भाई दालान में बैठे सुनते रहे थे।

"बता, तुझे कौन-सी चीज़ नहीं मिलती।" बापू चिल्लाया था।

"चीजों को मैंने चाटना!"

"मेरे से यह नहीं हो सकता।"

"फिर सो भी वहीं जाया कर।" कलपती हुई माँ दालान में आ गई थी तथा ऊँची आवाज़ में बोली थी जैसे हमें समझा रही हो, "समझ लिया न !"

फिर माँ ने बापू की बैठक में कभी प्रवेश नहीं किया। बापू के लिए घर का अर्थ केवल बैठक रह गया था तथा मेरे प्रस्ताव के अर्थ बदल गए थे।

घड़ी ने ग्यारह बजने की सूचना दी थी। मेरी नज़रें बार-बार कमरे में पड़ी वस्तुओं का निरीक्षण कर रही थीं। जितनी इस कमरे में सफाई थी, शायद शेष घर में न हो। प्रत्येक वस्तु सलीके से टिकी तथा सँवरी हुई। बापू को सफाई पसंद थी। यह बैठक उसने अपने लिए बनाई थी जिसमें दीवान पड़ा था, सोफानुमा पाँच कुर्सियाँ थीं, एक कोने में लकड़ी की छोटी-सी कोरनिस पर स्टीरिया पड़ा था तथा नीचे कैसिट! कमरे के बाहर मैट थी, किसी को भी अंदर जूते लेकर आना सख़्त मना था। एक बार उसका लँगोटिया यार मोहना अपने जूतों समेत भीतर आ घुसा। शायद वह अपने जूते ही बापू को दिखाना चाहता था। बापू कुछ नहीं बोला, बस छड़ी उठाई और एक-एक करके जूते दरवाजे से बाहर फेंक आया। लौटकर बोला, "ले भाई मोहन सिंह, यदि बच गए तो तेरे, कोई ले गया तो समझ लेना कि उसकी लाटरी निकल गई।" यह बात सारे गाँव में फैल गई थी और बापू के दूसरे किस्सों में एक यह भी शामिल हो गई थी।

दुपट्टा समेटे माँ अंदर आई तथा बुझी अगरबत्ती को देखकर मेरी तरफ देखा। ऐसे मानो कह रही हो - बेटा, दूसरी अगरबत्ती लगाने में कौन से पैसे लगते हैं। उसने एक और अगरबत्ती लगाई और आधी रजाई खींचकर घुटनों तक ओढ़ ली।

मैंने माँ की ओर देखा। वह सीधे बापू की ओर देख रही थी। उसकी आँखों में नमी थी। वह रोना चाहती थी, पर मेरे सामने रो नहीं सकती थी। इस कारण कि यदि वह रो पड़ी तो मैं तत्काल कह दूँगा, "माँ, तुम किसलिए रोती हो? उसके लिए जिसने कभी तुम्हें पैर की जूती नहीं समझा।"

कांता चाहती थी कि वह रोए, दहाड़ मारकर। इससे उसके भीतर बँधी गाँठ की परतें खुलनी शुरू हो जाएँगी या वह इतना ज़ोर से हँसे कि सारा गाँव देखे। इससे भी उसका बोझ हल्का हो सकता था। लेकिन वह कुछ नहीं कर सकती थी। यह बात बार-बार मुझे कचोट रही थी।

"विजय, नींद नहीं आ रही है क्या?" माँ ने मुझे चुप देखकर पूछा।

"ऊँ... हूँ..."

"फिर चाय बना लाऊँ?"

"तुम्हारा पीने को मन करता है?"

"मेरा मन तुझसे अलग तो नहीं।"

"मैं बना लाऊँ?"

"तू कहाँ माथापच्ची करेगा।" कांता भी सो गई थी, कल की उनींदी थी। बेटा भी उसका चंचल है।

वह खड़ी हो गई। जाते-जाते दरवाजे के पास लौट आई। बापू की रजाई ठीक की तो उसे नाक के पास जमी पपड़ी दिखाई दे गई। पास पड़ी कतरन से उसने धीरे-धीरे पपड़ी साफ की और दाढ़ी के बिखरे बालों को ठीक करने लगी।

"माँ, मैं चाय बनाकर लाता हूँ।" मैंने उसे अपने उठने का आभास नहीं होने दिया था। चाय में उबाल आने तक न जाने क्या-क्या सोचता रहा था। इसी बीच मुझे एक बात खटकती रही थी कि अब जबकि बापू के जीवन का कोई भरोसा नहीं रहा, फिर भी माँ ने सरवन भाई साहब को पत्र नहीं लिखा था, न ही किसी अन्य के हाथ संदेश भेजा था। मैं उससे पूछता-पूछता रह गया था। इस समय उन दोनों को यहाँ होना चाहिए था। सरवन भाई साहब राजकीय कॉलेज में प्रवक्ता थे तथा कुलदीप भाई साहब पंजाब रोडवेज में आडीटर। दोनों पहुँचने वाले थे। सरवन भाई साहब के पास अपनी गाड़ी भी थी और वह बापू को नगर के किसी भी अस्पताल में दिखा सकते थे। फिर कोई सलाह भी करनी होती है। तीनों इकट्ठे होते तो किसी एक पर बोझ न पड़ता तथा पीठ पीछे कोई किसी को कहने वाला न रहता। प्रत्येक अपना कर्तव्य पूरा करता, गाँव वाले गर्व करते, माँ को चिंता न होती, कांता वक्त से अपने घर जाने वाली बनती। जिस दिन से बापू ने खाट पकड़ी है, कांता ही उसके पास थी। शायद इसलिए कि वह हम सबसे

अधिक नज़दीक रहती थी। माँ ने पास-पड़ोस के किसी लड़के के हाथ संदेश भेज कर उसे बुलवा लिया था। मेरा आगमन तो कारणवश ही हुआ था। मेरी बच्ची को मक्की की रोटी बड़ी पसंद थी। मक्की की मेथी वाली रोटी और अच्छी मक्की तो गाँव में ही मिल सकती थी। फिर जस्सा जब भी मिलता, गाँव आने का आग्रह करता रहता। शनिवार-इतवार का अवकाश था। इतवार शाम तक मैंने बोरा लेकर लौट आना था। अगर मैं न आता तो मुझे बापू की बीमारी का क्या पता चलता।

कल शाम ही माँ को दिखाई देने लगा था कि बापू का अंत सिर पर खड़ा है। उसने मुझे समझाने के अंदाज में कहा था, "किसी को बुलाने की आवश्यकता नहीं, यह चाहे जैसा भी था, किसी की मृत्यु पर पीछे नहीं हटा। अगर किसी मृतक को स्नान कराने का साहस किसी में नहीं होता तो यह आगे हो जाता। तुझे पता है, अपने गाँव वाले दूनी पंडित का, वहीं जो खेत मज़दूरी करता था, लँगड़ा दूनी, वह अपनी कोठड़ी में ही मर गया। दो दिन बाद पता चला। भय के मारे कोई पास नहीं जा रहा था। इस शेर के बच्चे ने दरवाजे को धक्का मारकर कब्जों समेत उखाड़ दिया। अंदर से दुर्गंध का भभका उठा। बाहर तो भीड़ लग गई थी लेकिन कोई भड़वा आगे नहीं बढ़ा। यह अंदर से बाहर आया और पड़ोसियों से बोला, "तुम ईंधन गिरवाओ, बाकी मैं जानूँ, मेरा काम। यदि कोई अर्थी को हाथ लगाने से डरता है तो मैं अकेला उठाकर ले जाऊँगा।"

मैं बापू की प्रशंसा सहन न कर सका। मैंने तो सदा ही यह चाहा कि मेरे सामने बापू की कोई निंदा करे, उसकी दुर्बलताओं की कहानियाँ सुनाए, वह भी बढ़ा-चढ़ाकर।

परसों जब मैं अड्डे पर उतरा तो लंबरदार का प्यारा मिल गया था। उसने पूछा, "ताऊ का क्या हाल-चाल है?"

"मैं तो खुद आठ महीने बाद गाँव लौटा हूँ। यह गाँववालों को पता होगा।" मैं खीझ उठा था।

"लो, बाप तुम्हारा है, कहता है, गाँववालों को पता होगा।" उसने व्यंग्य में कहा तो मैंने अपनी चाल की गति तेज़ कर दी। मैं जानता था कि प्यारे के बापू मोहने के साथ बापू का खाना-पीना रहा है और ये बापू की स्तुति के बिना और कुछ नहीं कहेंगे। वैसे भी ये बापू का उपकार मानते हैं। एक मैं था जिसने बापू को कभी कुछ नहीं समझा और बापू ने मुझे। गाँव छोड़े दस वर्ष होने जा रहे थे। बापू एक बार भी मेरे घर नहीं आया था। मेरे इकलौते बेटे मनदीप की छठी पर भी नहीं, तब केवल माँ गई थी। मैं डिब्बा लेकर स्वयं आया था। अखंड पाठ का कार्ड लेकर। बापू बैठक में बैठा था। मैं माँ को कार्ड पर छपे अक्षर ऊँची आवाज़ में पढ़कर सुनाने लगा ताकि बापू भी सुन ले - "सरदार मलकीयत

सिंह की ओर से अपने पोते की..." अगले शब्द सुनने से पहले ही उसने स्टीरियो की आवाज़ ऊँची कर दी थी। मैं सब कुछ समझ गया था। मैं न तो अखंड पाठ करवाने के पक्ष में था और न कार्ड पर बापू का नाम लिखवाने के। लेकिन नीलम ने मेरी एक न मानी थी। वह बार-बार कहती रही - बड़ों का नाम कार्ड पर जाना ही चाहिए। इससे बापू जी शायद मान जाएँ, पर बापू भी अपने आदर्शों का पक्का था। माँ चाय बनाकर लाई थी और मैंने अपना मन बापू के पास जाने के लिए पक्का कर लिया था। लेकिन बापू ने खटाक से दरवाजा बंद कर लिया और मुख्य द्वार से बाहर निकल गया। मुझे पता था कि अब वह कारखाने पर जाएगा।

ऐसे अवसरों पर उसकी अंतिम मंज़िल उसका हवेली में बनाया हुआ कारखाना ही होता है जहाँ कभी काम से उसे फुर्सत नहीं मिली थी। माँ के पास चुप के अतिरिक्त कोई चारा न था। मुझे इस बात का भी आभास था कि यदि मैं बापू को कारखाने जाकर निमंत्रण देने न गया तो माँ की मूकता लंबी हो जाएगी। इस समय मुझे बापू से अधिक नीलम पर क्रोध आ रहा था। व्यर्थ में मुझे भेज दिया। साथ चलने को कहा तो बोली, "आपको मेरी स्थिति का तो पता ही है। मैं सफ़र कैसे कर सकती हूँ?" यहाँ आना मेरी मज़बूरी बन गई थी और अब यही मज़बूरी मुझे कारखाने तक ले गई। बापू एक बैड की टेक पर लगाने के लिए प्लाई नाप रहा था। मुझे देखकर बोला, "तू कारड सैल्फ पर रख दे और अपनी औरत के पास लौट जा।" बापू के रूखे स्वर ने मुझे कँपा दिया था। बापू के क्रोध में कोई फ़र्क़ नहीं आया था। कारखाने से घर तक का सफ़र मुझे कोसों दूर लगा था। पता नहीं क्यों जब कभी बापू क्रोध में बोलता था, उस समय मुझे बैठक में बैठे हुए मोहने के बापू के कहे शब्द बार-बार याद आते थे, "औरतें समझती हैं जब बेटे बराबर के हो जाएँ तो उनकी सरदारी चलनी चाहिए। क्योंकि वे समझती हैं कि जब कभी तोता बोलेगा तो अपनी माँ के पक्ष में ही बोलेगा। फिर तो बेटे शरीक हो गए। मैं तो ऐसे शरीकों को... पर भी नहीं मारता।"

दोनों हाथों में चाय के गिलास पकड़े मैं आँगन में आया तो माँ बापू पर झुकी खड़ी थी। उसके हाथ बापू की गर्दन के पास थे। मैं आहिस्ता-आहिस्ता खिड़की के पास जा खड़ा हुआ। मुझे माँ घबराई हुई-सी प्रतीत हुई। वह बार-बार अपनी चुन्नी ठीक कर रही थी और उसे फैला भी रही थी। ऐसे जैसे वह जो कुछ भी कर रही हो, किसी दूसरे को दिखाई न दे। किंतु उसने एक बार भी दरवाजे की ओर न देखा था।

माँ की अँगुलियाँ अभी भी बापू की गर्दन के पास थीं। मेरे मन में विचार कौंधा कि अब वह बापू का गला घोंट देगी। सारी उम्र बापू ने उसकी एक न सुनी, अपनी ही चलाई। शायद माँ का क्रोध बाहर निकलना शुरू हो गया हो या वह भी अपना बदला लेना

चाहती हो। फिर इससे अच्छा अवसर और कौन-सा हो सकता है। मुझे यह अहसास होता जा रहा था कि माँ केवल जी रही थी, जीने के लिए। इससे अधिक कुछ भी नहीं। जब माँ की अँगुलियों की गाँठें दिखाई दीं तो मुझे खुशी हुई, अपार खुशी! मैं स्वयं चाहता था कि बापू मर जाए। इसे तो आज से पंद्रह वर्ष पहले ही मर जाना चाहिए था। फिर यह जीवित क्यों रहा?

अब माँ का हाथ बापू की नाक के पास था। शायद वह बापू की गर्दन दबाने में असमर्थ रही हो और अब वह उसका साँस बंद करके उसे मारना चाहती हो। मारने का यह ढंग भी बढ़िया हो सकता है। एक हाथ मुँह पर रख दो और एक से नथुने बंद कर दो। पाँच मिनट में टैं बोल जाएगी। हाथों में पकड़े गिलास मैंने किनारे रख दिए। मेरे मन में आया कि इस काम में माँ की सहायता की जानी चाहिए। उसकी दुर्बल अँगुलियों में अब पहले जितनी शक्ति नहीं रही थी। कांता दालान में सो रही थी अपने बेटे को लिए। फिर मेरे सिवाय उसकी सहायता कौन कर सकता था? पर दूसरे क्षण मन में आया कि मेरे जाने से कहीं वह अपनी योजना बदल ही न दे। उसी क्षण माँ की देह काँपी। इस प्रकार जैसे किसी को ठंडे पानी में गोता लगवाकर बाहर ला खड़ा किया गया हो। मुझे लगा कि बापू पूरा हो चुका था। इसके बाद मुझे कोई होश नहीं रहा था क्योंकि माँ की चीख "अरे लोगो, मैं बरबाद हो गई रे... मैं लुट गई ... अरे, मैं मारी गई..." ने मेरा ध्यान अपनी ओर खींच लिया था।

बापू की देह को ज़मीन पर उतार कर रखते समय मेरी आँखें उसकी गर्दन पर केंद्रित हो गई थीं लेकिन मुझे कुछ भी ऐसा वहाँ दिखाई न दिया जिससे मैं निर्णय कर सकता कि बापू अपनी मौत मरा था या कि माँ ने...।